
बौद्ध धर्म में आध्यात्मिक चिन्तन

डॉ. धर्मचन्द्र जैन, आचार्य, संस्कृत विभाग, अधिष्ठाता, कला, शिक्षा एवं समाजविज्ञान संकाय,
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर

अनात्मवाद : अनासक्ति एवं निर्वेद का सिद्धान्त

बौद्धधर्म अनात्मवादी है, फिर भी यह आध्यात्मिक चिन्तन से ओतप्रोत है। गौतम बुद्ध के अनात्मवाद का प्रायः यह अर्थ समझा जाता है कि बौद्धधर्म में आत्मा को स्वीकार नहीं किया गया। अतः जिज्ञासुओं के मन में यह प्रश्न खड़ा हो सकता है कि जो आत्मा को नहीं मानता, उसमें आत्मा से सम्बद्ध आध्यात्मिक (आत्मनि इति अध्यात्मं, तस्मिन् भवं आध्यात्मिकम्) चिन्तन कैसे परिपुष्ट हो सकता है? इस सम्बन्ध में जब त्रिपिटक साहित्य पर दृष्टिपात किया जाता है तो ज्ञात होता है कि वहाँ जिस अनात्मवाद का प्रतिपादन किया गया है वह संसार की समस्त वस्तुओं को 'मैं' एवं 'मेरा' नहीं मानने का सिद्धान्त है, यथा- भिक्षुओं! रूप आत्मा नहीं है। भिक्षुओं! यदि रूप (शरीर आदि) आत्मा होता तो इसमें रोग न होता और हम रूप के सम्बन्ध में कह सकते, 'मेरा रूप ऐसा हो' मेरा रूप ऐसा न हो। चूँकि भिक्षुओं! रूप आत्मा नहीं है, इसलिए रूप में रोग होता है और हम रूप के सम्बन्ध में नहीं कह सकते 'मेरा रूप ऐसा हो', 'मेरा रूप ऐसा न हो'।¹

इसी प्रकार विनयपिटक के महावग्ग में वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान के भी आत्मा होने का निषेध किया गया है। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान ये पाँचों स्कन्ध हमारे अनुभव में आते हैं। किन्तु ये आत्मा नहीं हैं, इनको आत्मा मानना भ्रान्ति है। रूप, वेदना आदि पाँचों स्कन्ध अनित्य हैं, दुःख हैं, विपरिणामधर्मा हैं, अतः ये अनात्म हैं अर्थात् ये 'मैं' नहीं हूँ, 'मेरे' नहीं हैं। विनयपिटक के महावग्ग में अनात्मवाद का इस प्रकार का प्रतिपादन निर्वेद या वैराग्य को जाग्रत करता है। अनात्मवाद का यह उपदेश दीघनिकाय², मज्झिमनिकाय³, संयुत्तनिकाय⁴ आदि में भी प्राप्त होता है। मज्झिमनिकाय में बुद्ध कहते हैं- 'भिक्षुओं! जो तुम्हारा नहीं है, उसे छोड़ो। उसका छोड़ना तुम्हारे लिए चिरकाल तक हित और सुख के लिए होगा।⁵ अनात्मवाद का प्रयोजन है- इन्द्रिय संयम, अनासक्ति, वैराग्य एवं अहंभाव का त्याग। रूप आदि में राग करने से चित्त मलिन होता है, इनमें आसक्ति होना अथवा इन्हें 'मैं' या 'मेरा' मानना भ्रान्ति है जो दुःख को बढ़ाने वाली है।

जो प्रतीत्य समुत्पन्न हैं, उत्पत्ति-विनाशशील हैं वे अथवा उनका संघात 'मैं' या 'मेरा' नहीं हो सकता। रूप, वेदना, संस्कार एवं विज्ञान प्रतीत्य समुत्पन्न हैं। अतः ये 'मैं' एवं 'मेरे' नहीं हैं।

बौद्ध दर्शन में आत्मा का वह नित्य स्वरूप वर्णित नहीं है जो भगवद्गीता एवं उपनिषदों में प्राप्त होता है तथा वह नित्यानित्य स्वरूप भी प्राप्त नहीं है जो जैन दर्शन में मिलता है, किन्तु यहाँ चित्त या चेतना को अवश्य स्वीकार किया गया है जिसकी सन्तति में कर्म एवं उसका फल संक्रान्त होना मान्य किया गया है। मिलिन्दपञ्चो में भदन्त नागसेन ने ग्रीक राजा मिनाण्डर को सम्बोधित करते हुए कहा कि जिस प्रकार बांस, धुरा, चक्र, रस्से, जुआ, पहियों के अर आदि रथ नहीं हैं। उनका सम्मिलित स्वरूप व्यवहार में रथ कहा जाता है। उसी प्रकार पञ्च स्कन्धों के आधार पर व्यक्ति के व्यक्तित्व की उपलब्धि होती है।

धम्मपद में हमें आत्मा के बोधक 'अत्ता' शब्द का प्रयोग भी दिखाई देता है, यथा- 'अत्ता हि अत्तनो नाथो, अत्ता हि अत्तनो गति।'⁵ 'अत्ताहि अत्तनो नाथो को हि नाथो परो सिया।'⁶ यहाँ 'अत्ता' शब्द का प्रयोग आत्मा का सूचक प्रतीत हो सकता है, किन्तु धम्मपद के व्याख्याकार इस 'अत्ता' शब्द का अर्थ 'स्वयं' या 'व्यक्ति' करते हैं, क्योंकि बुद्ध स्वयं आत्मा को स्वीकार करने की कहीं पुष्टि नहीं करते और न ही उसका कहीं निषेध करते हैं। विज्ञानवाद में आगे चलकर विज्ञान-सन्तति/चित्त-सन्तति को ही चेतना के प्रवाह के रूप में प्रतिपादित किया गया है, जो तृष्णा का क्षय करने में समर्थ है। स्थविरवाद के अनुसार हमारा व्यक्तित्व पंच स्कन्धों से बना है, जिसमें रूप है हमारा भौतिक शरीर तथा वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान ये चार मानस स्कन्ध हैं। इन्हें 'नाम' भी कहा गया है। इनके प्रति गहरी आसक्ति के कारण व्यक्ति इन्हें 'मैं' या 'मेरा' कहता है।

चार आर्य सत्य : दुःखों से मुक्ति का उपदेश

बुद्ध ने बड़े मनोवैज्ञानिक ढंग एवं बोधगम्य रीति से अध्यात्म विद्या को समझाया। इसके लिए उन्होंने चार आर्य सत्यों का प्रतिपादन किया। बुद्ध ने स्वयं इन आर्य सत्यों का साक्षात्कार किया तथा बहुजनहिताय बहुजन सुखाय की भावना से सबके कल्याण हेतु इनका प्रतिपादन किया- १. दुःख, २. दुःख समुदय, ३. दुःख निरोध एवं ४. दुःख निरोध गामिनी प्रतिपद- ये चार आर्य सत्य हैं।

दुःख सत्य का अनुभव हम सबको होता है। यहाँ जन्म भी दुःख है, रोग भी दुःख है, मरण भी दुःख है, शोक, परिदेवन, दौर्मनस्य आदि दुःख हैं, अप्रियों के साथ संयोग तथा प्रियों से वियोग दुःख है, जो इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं उनकी पूर्ति न होने पर दुःख है।⁷ बौद्ध दर्शन की तकनीकी भाषा में संक्षेप में कहें तो रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान ये सभी पञ्च स्कन्ध दुःख हैं। प्राणियों की संसार-यात्रा अनादिकाल से चल रही है। महासागरों से भी अधिक जल आँसुओं के रूप में ये प्राणी बहा चुके हैं।

दुःख एक सत्य है, इसे स्वीकार करने पर ही इसके कारणों की खोज सम्भव है। दुःख तीन प्रकार के हैं—
 १. दुःख-दुःख- यह सिर दर्द, पेट दर्द आदि शारीरिक एवं स्थूल मानसिक दुःखों के रूप में अनुभूत होता है।
 २. विपरिणाम दुःख- यह बाह्य दृष्टि से सुख रूप प्रतीत होता है, किन्तु परिणाम में दुःख रूप होता है, यथा- विषय भोग, अधिक स्वादिष्ट भोजन आदि का सेवन सुखद प्रतीत होता है, किन्तु परिणाम में दुःख प्राप्त होता है।
 ३. संस्कार दुःख- यह व्यापक दुःख है, जो अविद्या, संस्कार आदि से उत्पन्न होता है।

इस त्रिविध दुःख को जो द्रष्टाभाव से देखता है, दुःख के स्वभाव को प्रज्ञापूर्वक जानता है, दुःख के उदय एवं व्यय को जानता है, उसे यथाभूत जानता है, उसके लिए यह दुःख आर्य सत्य होता है।

द्वितीय आर्यसत्य है- दुःख समुदय। समुदय का तात्पर्य है जिससे दुःख उदित होता है अर्थात् दुःख का कारण। बौद्धदर्शन में अविद्या एवं तृष्णा को दुःख का मूल कारण माना गया है। इस दुःख के कारण की शृंखला को प्रतीत्यसमुत्पाद से व्याख्यायित किया जाता है। प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ है- एक के होने पर दूसरे का होना। बौद्धदर्शन में कारण परम्परा को बारह निदान के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, यथा- १. अविद्या, २. संस्कार, ३. विज्ञान, ४. नामरूप, ५. षडायतन (पाँच इन्द्रियाँ एवं मन), ६. स्पर्श, ७. वेदना, ८. तृष्णा, ९. उपादान (राग), १०. भव, ११. जाति, १२. जरा-मरण।^९ इनमें अविद्या आदि पूर्ववर्ती कारण से संस्कार आदि उत्तरवर्ती कार्य उत्पन्न होते हैं, यथा अविद्या से संस्कार, संस्कार से विज्ञान, विज्ञान से नामरूप आदि। अविद्या का नाश होने पर संस्कार आदि का भी नाश हो जाता है। इनसे उत्पन्न दुःख संस्कार दुःख है। यह भवचक्र परम्परा है। अविद्या इनमें मूल कारण है। अविद्या के दूर होने पर अन्य कारणों का भी निवारण शक्य है। संसार में जो प्रियकर लगता है, जिसमें सुख प्रतीत होता है, उसके प्रति तृष्णा उत्पन्न होती है एवं तृष्णा के कारण उपादान, भव आदि की प्राप्ति होती है।

धम्मपद में निगदित है कि अविद्या परम मल है- 'अविज्जा परमं मलं'^{१०} अविद्या से बढ़कर कोई दोष नहीं है, इसके रहते दुःखों से मुक्ति नहीं। राग, द्वेष, मोह एवं तृष्णा भी दुःख के कारण हैं, इसको इंगित करते हुए धम्मपद में कहा गया-

नत्थि रागसमो अग्नि, नत्थि दोससमो गहो।

नत्थि मोहसमं जालं, नत्थि तण्हासमा नदी।।^{११}

राग के समान अग्नि नहीं है, द्वेष के समान ग्रह नहीं है, मोह के समान अन्य कोई जाल नहीं है तथा तृष्णा के समान नदी नहीं है। राग जहाँ सबको आकर्षित करता है वहाँ दाहकता की दृष्टि से विचार किया जाए तो वह भीतर में दाह उत्पन्न करता है। अन्य राहु, केतु आदि ग्रह हानि पहुँचाएँ या न भी पहुँचाएँ, किन्तु द्वेष तो हानि पहुँचाता ही है। मनुष्य को गिरफ्त में लेने वाला सबसे बड़ा जाल मोह है तथा

तृष्णा का बहाव नदी की भांति निरन्तर जारी रहता है। ये राग आदि सभी दुःख के कारण कहे गए हैं, जिनका अन्तर्भाव संस्कार, नामरूप, षडायतन, तृष्णा, उपादान आदि में किया जा सकता है।

अविद्या के साथ समस्त पापक्रियाएँ भी दुःख की कारण हैं। धम्मपद में कहा गया है कि जो पाप करने वाला है वह इस लोक एवं परलोक दोनों में शोक करता है। अपने क्लिष्ट कर्मों को देखकर वह शोक करता है एवं दुःखी होता है।^{१२}

दुःख के कारणों को सम्यक्तया जान लेने पर ही उनका निराकरण हो सकता है।

तृतीय आर्यसत्य है- दुःखनिरोध। बुद्ध का कथन है कि दुःख का निरोध अर्थात् समापन किया जा सकता है। दुःख निरोध तृष्णा का अशेष विनाश है। दुःख निरोध को निर्वाण भी कहा जाता है। तृष्णा से सम्पूर्ण वैराग्य कर तृष्णा का निरोध, उसका त्याग, परित्याग, उस तृष्णा से मुक्ति और अनासक्ति करना दुःख निरोध है। तृष्णा को जो दुःख का कारण समझता है वह ही तृष्णा से मुक्त हो सकता है। तृष्णा प्रहीण करने से प्रहीण होती है और निरुद्ध करने से निरुद्ध होती है।

जो व्यक्ति दुस्त्याज्य नीच तृष्णा को जीत लेता है, उसके शोक उसी प्रकार गिर जाते हैं, जिस प्रकार कमल से जल की बूँदें नीचे गिर जाती है-

यो चेत्तं सहती जम्मिं तण्हं लोके दुरच्चयं।

सोका तम्हा पपतन्ति, उदबिन्दुव पोक्खरा॥^{१३}

चतुर्थ आर्य सत्य दुःख निरोधगामिनी प्रतिपद है। इसे दुःख निरोध का उपाय कहा जाता है। यह उपाय अष्टाङ्गिक मार्ग के रूप में प्रसिद्ध है। इसे बुद्ध ने 'कल्याणवर्त्म' कहा है तथा इसका आचरण करने के लिए शिष्यों को प्रोत्साहित किया है। इसके आठ अङ्ग हैं-

१. सम्यक् दृष्टि, २. सम्यक् संकल्प-प्रज्ञा ३. सम्यक् वाणी, ४. सम्यक् कर्मान्त, ५. सम्यक् आजीव - शील ६. सम्यक् व्यायाम, ७. सम्यक् स्मृति, ८. सम्यक् समाधि-समाधि

यह अष्टाङ्गिक मार्ग प्रज्ञा, शील एवं समाधि नामक तीन स्कन्धों में अन्तर्भावित है। सम्यक् दृष्टि एवं सम्यक् संकल्प प्रज्ञा स्कन्ध में, सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्मान्त एवं सम्यक् आजीव शील स्कन्ध में तथा अन्तिम तीन का समाधि स्कन्ध में समावेश हो जाता है।

मुक्तिमार्ग का प्रथम सोपान सम्यक् दृष्टि है, जिसके बिना शील एवं समाधि की प्राप्ति नहीं होती। जिस समय दुराचरण एवं उसके मूल कारण की तथा सदाचरण एवं उसके मूल कारण की पहचान होती है तब दृष्टि सम्यक् होती है। चार आर्य सत्यों को जान लेने पर यह दृष्टि बनती है। सम्यग्दृष्टि होने पर यथार्थ बोध होता है। धम्मपद में मिथ्यादृष्टि के सम्बन्ध में कहा गया है कि जो अभय में भय देखते हैं एवं भय में अभय देखते हैं, अदोष में दोष देखते हैं तथा दोष में अदोष देखते हैं ऐसी मिथ्या दृष्टि को

ग्रहण करने वाले प्राणी दुर्गति में जाते हैं।^{१४}

अविद्या के कारण उत्पन्न संस्कार को निर्मल करने का ज्ञानमय संकल्प ही सम्यक् संकल्प है। नैष्कर्म्य, अव्यापाद एवं अविहिंसा का संकल्प सम्यक् संकल्प है।^{१५} नैष्कर्म्य संकल्प में काम-तृष्णा से रहित संकल्प किया जाता है। क्रोध, द्रोह, घृणा, द्वेष आदि न करने का संकल्प अव्यापाद संकल्प है। हिंसा न करने का संकल्प अविहिंसा संकल्प है। ये सभी संकल्प चित्तशुद्धि एवं दुःखमुक्ति में सहायक हैं। धम्मपद सम्यक् संकल्पों के निरूपण से पूरित है। प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान आदि के त्याग की प्रेरणा, क्रोध, द्रोह आदि के त्याग का संदेश तथा इच्छाओं पर विजय की सत्प्रेरणा धम्मपद के विभिन्न वर्गों में प्राप्त होती है। अहिंसा के सम्बन्ध में कहा है-

अहिंसका ये मुनयो निच्चं कायेन संवुता।

ते वन्ति अच्युतं ठानं, यत्थ गन्त्वा न सोचरे।।^{१६}

जो मुनि अहिंसक हैं, नित्य काया से संयत हैं वे उस अच्युत स्थान को प्राप्त करते हैं जहाँ जाने पर शोक नहीं करना पड़ता। क्रोध को जीतने के लिए कहा गया- 'अक्कोधेन जिने कोधं।'^{१७} अर्थात् क्रोध को अक्रोध से जीते।

मृषावाद, परुषवाक्, चुगली तथा व्यर्थ बकवास का त्याग कर सम्यक् रूप से वाणी का प्रयोग करना सम्यक् वाक् है। धम्मपद में भी कहा है- 'मा वोच फरुसं कज्जि।'^{१८} जो सम्यक् वाणी का प्रयोग करता है वह मृषावाद आदि वाणी के चारों दोषों का त्याग करता है। वह न झूठ बोलता है, न कठोर वचन बोलता है, न चुगली करता है और न ही व्यर्थ प्रलाप करता है। वाणी पर उसका संयम होता है। प्राणातिपात, अदत्तादान एवं काम मिथ्याचार आदि का क्षण उपस्थित होने पर यदि कोई व्यक्ति उस कर्म से विरत रहता है तो इसे सम्यक् कर्मान्त कहा गया है। अपनी जीविका हेतु मछली पकड़ना, प्राणिवध करना, दूसरों को धोखा देना, ठगना आदि सभी कर्म दुराजीव हैं। सम्यक् आजीव में इनका त्याग किया जाता है। दीघनिकाय के ब्रह्मजालसुत्त में विष, शस्त्र, मदिरा, मांस आदि बेचना, झूठा मापतोल करना, नौकर, जानवर आदि का व्यापार करना आदि मिथ्या आजीविका कहे गए हैं।^{१९} सम्यक् आजीव से व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन की शुद्धि होती है। कुशल कर्मों में उत्साह सम्यक् व्यायाम है। यह कुशल चित्त का उत्साह है। अकुशल प्रवृत्तियों एवं धर्मों का इसमें प्रहाण किया जाता है तथा कुशल प्रवृत्तियों को ग्रहण कर उन्हें कायम रखा जाता है। सम्यक् स्मृति का अर्थ है जागरूकता। यह स्मृति चार प्रकार की है^{२०} -

१. कायानुपशयना-जानते हुए श्वास लेना, जानते हुए श्वास छोड़ना, पैर के तलवे से लेकर मस्तक के प्रत्येक भाग को जानना, काया में उत्पत्ति एवं विनाश धर्म को जानना कायानुपशयना है। ऐसा साधक उठने, बैठने, काम करने, सोने, चलने आदि कार्यों में जागरूक रहता है।

-
२. वेदानुपश्यना-सुख, दुःख आदि वेदनाओं को बिना किसी प्रतिक्रिया के जागरूकतापूर्वक जानना।
 ३. चित्तानुपश्यना-रागयुक्त चित्त को रागयुक्त जानना, मोहरहित चित्त को मोहरहित जानना, इस प्रकार चित्त धर्मों को जागरूकतापूर्वक जानना चित्तानुपश्यना स्मृति है।
 ४. धर्मानुपश्यना-काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, आलस्य, उद्धतता, पश्चात्ताप आदि चित्त धर्मों को जागरूकतापूर्वक जानना धर्मानुपश्यना स्मृति है।

चार स्मृति प्रस्थानों का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए महासति-पट्टानसुत्त में कहा गया है-
 “भिक्षुओं! ये जो चार स्मृति-प्रस्थान हैं, वे प्राणियों की विशुद्धि के लिए, शोक तथा कष्ट के उपशमन के लिए, दुःख तथा दौर्मनस्य के नाश के लिए, ज्ञान की प्राप्ति के लिए, निर्वाण के साक्षात्कार के लिए एकायन मार्ग है।”^{२१}

आठवां अंग समाधि है। कुशल चित्त की एकाग्रता का नाम समाधि है। स्मृति के चार उपस्थान समाधि के निमित्त हैं और सम्यक् व्यायाम समाधि की सामग्री है। सम्यक् समाधि के चार चरण हैं, जिन्हें ध्यान कहा जाता है। वितर्क, विचार, प्रीति, सुख एवं एकाग्रता से युक्त चित्त ध्यान की प्रथम स्थिति है। यहाँ वितर्क एवं विचार के शान्त होने पर द्वितीय ध्यान का उदय होता है। प्रीति से मुक्त होकर उपेक्षा, स्मृति एवं संप्रज्ञान से युक्त होने पर तृतीय ध्यान का उदय होता है तथा सुख का परिहार एवं स्मृति की शुद्धि होने पर चतुर्थ ध्यान का उदय होता है। उपेक्षा, स्मृति एवं एकाग्रतापूर्वक विशुद्ध चित्त की अवस्था को चतुर्थ ध्यान कहा गया है। इससे प्रज्ञा प्रकट होती है।

कुशल एवं अकुशल धर्मों का विवेक

आध्यात्मिक उन्नति के लिए साधक को अकुशल कर्मों का प्रहाण एवं कुशल कर्मों या धर्मों का पोषण करना आवश्यक है। अकुशल धर्म पाप के सूचक हैं तथा कुशल धर्म पुण्य स्वरूप एवं अकुशल धर्मों के निरोधक होते हैं। बौद्धधर्म के ३७ बोधिपक्षीय धर्मों^{२२} में चार सम्यक् प्रधान कहे गए हैं, यथा-

१. अनुत्पन्न अकुशल धर्मों की अनुत्पत्ति के लिए रुचि उत्पन्न करना, परिश्रम करना, प्रयत्न करना, चित्त का निग्रह करना।
 २. उत्पन्न अकुशल धर्मों के विनाश के लिए वीर्यारम्भ करना।
 ३. अनुत्पन्न कुशल धर्मों की प्राप्ति के लिए उत्तरोत्तर दृढ़ प्रयत्न करना।
 ४. उत्पन्न कुशल धर्मों की स्थिति, अविनाश, वृद्धि और विपुलता के लिए उद्योग करना।
- अङ्गुत्तरनिकाय में लोभ, द्वेष, मोह आदि को अकुशल धर्म तथा अलोभ, अद्वेष, अमोह आदि को कुशल धर्म कहा गया है।^{२३} दूसरे शब्दों में जो चित्त को मलिन करते हैं वे अकुशल धर्म हैं

तथा जो चित्त की विशुद्धि करते हैं वे कुशल धर्म हैं।

जब कोई साधक वीर्यारम्भ करता है अर्थात् साधना में तत्पर होता है तो उसके अनुत्पन्न कुशल धर्म उत्पन्न होने लगते हैं तथा उत्पन्न अकुशल धर्म क्षीण होने लगते हैं।^{२५} इसके विपरीत प्रमाद, कौसीद्य (आलस्य), महेच्छता, असन्तोष, सूक्ष्मतया अनन्वीक्षण, असम्प्रजन्य (विवेकाभाव), पापमित्रता आदि ऐसे कारण हैं जिनके होने से कुशल धर्मों की क्षीणता एवं अकुशल धर्मों की उत्पत्ति होती है, जबकि अप्रमाद, अल्पेच्छता, सन्तोष, सूक्ष्मतया अन्वीक्षण, सम्प्रजन्य (विवेक), कल्याण मित्रता आदि के होने पर अनुत्पन्न कुशल धर्म उत्पन्न होने लगते हैं तथा उत्पन्न अकुशल धर्म क्षीण होने लगते हैं।^{२५}

सुत्तपिटक के खुद्दकनिकाय में परिगणित धम्मपद में कहा गया है कि समस्त पापों को न करना, कुशल कर्मों को करना तथा स्वचित्त को शुद्ध करना, यही बुद्धों की शिक्षा है-

सब्बपापस्स अकरणं, कुसलस्स उपसम्पदा।

सचित्तपरियोदपनं, एतं बुद्धान सासनं॥^{२६}

धम्मपद की इस गाथा को बुद्ध के उपदेशों का सार एवं अध्यात्मविद्या का आधार कहा जा सकता है। नये पापकार्य को पूरी तरह न करना तथा पुण्य या कुशल कार्यों को करते हुए चित्त को शुद्ध करने पर ही अध्यात्मविद्या सफलीभूत होती है। हिंसा, मृषावाद, अदत्तादान, परस्त्री सेवन, क्रोध, लोभ, मोह आदि पाप कर्म हैं। इन सभी पाप कर्मों का त्याग करते हुए क्षमा, मैत्री, अलोभ, अद्वेष, अहिंसा, सत्य, अचौर्य आदि कुशल कर्मों को अपनाना चाहिए। इन दोनों के साथ तीसरा कार्य है- अपने चित्त की शुद्धि। बौद्ध धर्म में आत्मशुद्धि के स्थान पर चित्तशुद्धि शब्द का प्रयोग हुआ है।

धम्मपद में कुशल कर्मों के उपादान एवं अकुशल कर्मों के त्याग के लिए भांति-भांति से प्रेरित किया गया है, यथा-

अभित्थरेथ कल्याणे पापा चित्तं निवारये।

दन्धं हि करोति पुञ्जं पापस्मिं रमते मनो॥^{२७}

पुण्य या कुशल कर्मों को शीघ्रता से करना चाहिए तथा पापों से चित्त को दूर हटा लेना चाहिए, जो पुण्य कार्य को धीमी गति से करता है उसका मन पाप में रमण करने लगता है। पाप कर्मों से हटाकर पुण्य कार्य में मन लगाना सम्यक् प्रयत्न है।

यदि मनुष्य पापाचरण कर दे तो धम्मपद का पापवर्ग कहता है कि उस पाप को बार-बार न करे, उसे करने की इच्छा भी न करे, क्योंकि पाप का संचय दुःखकारी है। इसी प्रकार यदि मनुष्य पुण्य को करे तो उसे बार-बार करे, उसे करने की इच्छा रखे, क्योंकि पुण्य का संचय सुखकारी है।^{२८}

जो पाप नहीं करना चाहता, उसके लिए धम्मपद में कहा है-

पाणम्हि चे वणो नास्स हरेय्य पाणिना विसं।

नाब्बणं विसमन्वेति, नत्थि पापं अकुच्चतो।।^{२६}

यदि हाथ में घाव नहीं है और हाथ में विष ले लें, तो घावरहित हाथ में विष नहीं लगता, इसी प्रकार न करने वाले को पाप नहीं लगता है। इसका तात्पर्य है कि हमारे राग-द्वेष आदि के पूर्व संस्कारों के कारण किसी का बुरा मानेंगे तो पाप लगेगा, निर्लेपभाव से कार्य करने पर पाप नहीं लगता है।

इस प्रकार पापरहित होकर क्रिया करने के सम्बन्ध में धम्मपद में सूक्ष्मता से विवेचन हुआ है। यदि मनुष्य अपने को दोषी न मानकर अन्य निर्दोष पर दोषारोपण करता है, तो धम्मपद के अनुसार वह दोष स्वयं दोषारोपक पर उसी प्रकार लौट आता है जिस प्रकार वायु के रुख के विरुद्ध फेंकी गई धूल के सूक्ष्म कण फेंकने वाले की ओर लौट आते हैं।^{३०}

मनुष्य को पाप के फल से दूसरा कोई नहीं बचा सकता। पाप का फल भोगना ही पड़ता है। न आकाश में, न समुद्र के मध्य, न पर्वतों के विवर में, संसार में ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ रहकर प्राणी पापकर्म के फल से बच सके और मृत्यु को प्राप्त न हो।^{३१}

भारतीय परम्परा में नरक एवं स्वर्ग को चार्वाक के अतिरिक्त लगभग सभी धर्म-दर्शन स्वीकार करते हैं। बौद्धधर्म में भी नरक एवं स्वर्ग की अवधारणा है। इसीलिए धम्मपद कहता है- “पाप कर्म करने वालों में कुछ गर्भ में उत्पन्न होते हैं, कुछ नरक में जन्म लेते हैं तथा जो पुण्य कर्म करने वाले हैं वे स्वर्ग में जाते हैं और जो अनास्रव हैं वे निर्वाण को प्राप्त करते हैं।”^{३२} बौद्धदर्शन में आस्रव शब्द का प्रयोग जैनदर्शन की भांति पाप-पुण्य कर्मों के निरन्तर संचय के अर्थ में हुआ है, इस संचय से बचना अनास्रव है। जो अनास्रवी है वही निर्वाण को प्राप्त करता है।

जब तक पाप का फल नहीं मिलता है तब तक व्यक्ति पाप को अच्छा समझता है, किन्तु जब पाप का फल प्राप्त होता है तो उसे ज्ञात होता है कि पाप करना बुरा है।^{३३} पाप करते समय अज्ञानी व्यक्ति नहीं जानता है, किन्तु फल प्राप्ति के समय अग्नि से दग्ध हुए की भांति दुःखी होता है।^{३४} इसलिए पाप करते समय सावधान रहें।

धम्मपद के लोकवग्गो में प्रेरित किया गया है-उठें, प्रमाद न करें, सुचरित धर्म का आचरण करें। धर्मचारी पुरुष इहलोक एवं परलोक दोनों स्थानों पर सुखपूर्वक रहता है।^{३५}

शील का महत्त्व

जो शील का सम्यक् आचरण करता है वही समाधि एवं प्रज्ञा की प्राप्ति में समर्थ होता है। बौद्ध

धर्म में प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, काम-भोग, मिथ्याचार एवं सुरामेरय से विरति को शील कहा गया है। धम्मपद के शब्दों में- “जो प्राणों का अतिपात करता है, मृषावाद करता है, अदत्त का आदान करता है, परदारा का सेवन करता है, सुरामेरय का पान करता है वह लोक में अपनी ही जड़ें खोदता है, अर्थात् स्वयं विनाश को प्राप्त होता है।”^{३६} वह दूसरों की हानि करे या न करे स्वयं अपनी तो हानि कर ही लेता है। जैन धर्म के दशवैकालिक सूत्र में भी प्राणातिपात आदि से विरति का प्रतिपादन हुआ है।^{३७} जैन धर्म एवं पातञ्जल योगसूत्र में सुरामेरय-त्याग के स्थान पर ‘अपरिग्रह’ को स्थान देकर अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह का महाव्रत, अणुव्रत अथवा पंच यमों के रूप में निरूपण किया गया है।^{३८} इनका ठीक से आचरण करने पर ही चित्त की एकाग्रता सम्भव है। हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार आदि में लिप्त व्यक्ति समाधि को प्राप्त नहीं हो सकता।

धम्मपद में कहा गया है कि हिंसा, मृषावाद आदि मल हैं जो चित्त को मलिन करते हैं। जो हिंसा करता है वह आर्य नहीं हो सकता। सब प्राणियों के प्रति अहिंसा का व्यवहार करने वाला ही आर्य कहा जा सकता है।^{३९} सभी प्राणियों को अपना जैसा समझकर व्यवहार करना चाहिए, इस सम्बन्ध में दण्डवग्गो में कहा गया है कि सभी दण्ड से डरते हैं, सभी मृत्यु से भयभीत होते हैं, इसलिए सभी को अपने समान समझकर न तो मारे और न मरवाये।^{४०} जो अपने सुख की चाह में दूसरे प्राणियों की हिंसा करता है, वह सुख प्राप्त नहीं करता है। जो दण्ड के अयोग्यों को दण्ड से पीड़ित करता है या दोष रहितों को दोष देता है वह दस स्थानों में से किसी एक को शीघ्र प्राप्त करता है- १. तीव्र वेदना, २. हानि, ३. अंग-भंग, ४. बड़ी बीमारी, ५. पागलपन, ६. राजदण्ड, ७. कड़ी निन्दा, ८. रिश्तेदारों से सम्बन्ध विच्छेद, ९. भोग साधनों की हानि, १०. अग्नि से घर का दहन।^{४१} शरीर छूटने पर वह नरक में उत्पन्न होता है। सुत्तनिपात के उरगवग्गो के मेत सुत्त में प्राणिमात्र के प्रति मैत्री भावना का संदेश दिया गया है। जैसे माता अपने एकमात्र पुत्र की रक्षा प्राण देकर भी करती है, उसी प्रकार साधक प्राणिमात्र के प्रति अपरिमित मैत्री की भावना करे।^{४२} यह मैत्री भावना ऊर्ध्व, अधः एवं तिर्यक् लोक के सभी प्राणियों के प्रति निर्वैर एवं शत्रुता रहित होकर मन से की जानी चाहिए-

मेत्तं च सब्बलोकस्मि, मानसं भावये स अपरिमाणं।

उद्धं अधो च तिरियं च, असम्बाधं अवेरमसपत्तं॥^{४३}

प्राणातिपात आदि असद् धर्म हैं तथा प्राणातिपातविरति आदि सद्धर्म हैं। मन, वाणी और काया तीनों स्तरों पर प्रज्ञावान् व्यक्ति के द्वारा जो आचरण किया जाता है वह सद्धर्म का स्वरूप ग्रहण करता है तथा मिथ्यादृष्टि का आचरण अधर्म का स्वरूप धारण करता है। स्वयं प्राणातिपात करने, दूसरों से कराने, प्राणातिपात करने वाले का समर्थन करने तथा उसकी प्रशंसा करने वाले को भी त्याज्य बताया

गया है। इसी प्रकार मृषावाद आदि अशीलों को भी सभी स्तरों पर त्याज्य प्रतिपादित किया गया है। अतः मन, वचन एवं काया तीनों स्तरों पर संवरयुक्त होना चाहिए—

**कायेन संवृता धीरा, अथो वाचा य संवृता।
मनसा संवृता धीरा, ते वे सुपरिसंवृता।।^{४४}**

धीर पुरुष, काया, वाणी एवं मन से संवृत्त होने के कारण सुपरिसंवृत्त कहे जाते हैं। प्राणातिपात, अदत्तादान एवं काम भोगों में मिथ्याचार को अंगुत्तरनिकाय में काया का अकुशल कर्म कहा गया है। वाणी के अकुशल कर्म में मृषावाद, पिशुनवाक्, परुषवाक् एवं सम्प्रलाप का अन्तर्भाव किया गया है तथा मन से सम्बद्ध अकुशल कर्म तीन प्रकार के कहे गए हैं— १. अमिध्या (लोभ), २. व्यापाद (द्वेष), ३. मिथ्यादृष्टि। इसके विपरीत प्राणातिपात—विरति आदि तीन कुशल कायकर्म, मृषावाद विरति आदि कुशल वाक्कर्म तथा अलोभ, अद्वेष एवं सम्यक् दृष्टि कुशल मनःकर्म होते हैं।^{४५} मन, वचन एवं काया से अकुशल कर्म का त्याग एवं कुशलकर्म का आचरण करने पर शील का पालन होता है।

कतिपय पारिभाषिक शब्दों की अध्यात्मपरक व्याख्या

पण्डित, श्रमण, भिक्षु, वृषल, ब्राह्मण आदि की परिभाषाओं को बौद्धग्रन्थों में आध्यात्मिक रंग दिया गया है। धम्मपद में कहा गया है कि— “अधिक बोलने से कोई पण्डित नहीं होता, जो क्षेमी, वैर रहित एवं निर्भय होता है, वही पण्डित कहलाता है।”^{४६} दूसरे शब्दों में कहा गया है—

**सेलो यथा एकघनो वातेनं न समीरति।
एवं निन्दापसंसासु न समिञ्जन्ति पण्डिता।।^{४७}**

जिस प्रकार सघन पहाड़ वायु के चलने पर भी कम्पित नहीं होता है, उसी प्रकार निन्दा एवं प्रशंसा में पण्डित पुरुष अडोल रहते हैं। इसी प्रकार श्रमण का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा गया—

**यो च समेति पापानि, अणुं थूलानि सब्बसो।
समितता हि पापानं समणो ति पवुच्चते।।^{४८}**

जो सूक्ष्म एवं स्थूल पापों का सर्वतः शमन करता है, वह शमितता के कारण श्रमण कहा जाता है। भिक्षु के सम्बन्ध में कहा गया है— “भिक्षा मांगने से कोई भिक्षु नहीं होता, जो ब्रह्मचर्य एवं ज्ञानपूर्वक लोक में विचरण करता है, वह भिक्षु है।”^{४९} मुनि के विषय में कहा गया— “मौन धारण करने मात्र से कोई मुनि नहीं होता, जो पापों का परिवर्जन करता है तथा पुण्य—पाप के दोनों लोकों को जानता है वह मुनि है।”^{५०} जो अपने मन को स्वच्छ किये बिना काषाय वस्त्रों को धारण करता है, सत्य और संयम से रहित

वह व्यक्ति काषाय वस्त्रों का अधिकारी नहीं है।^{५१}

वृषल कौन होता है, इस सम्बन्ध में सुत्तनिपात के उरगवग्गो में कहा गया है कि जो पुरुष क्रोधी एवं द्वेषी है, पापी तथा ईर्ष्यालु है, मिथ्यादृष्टि एवं मायावी है, उसको वृषल जानो।^{५२} अग्निभारद्वारा ब्राह्मण को वृषल का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए बुद्ध ने जेतवन आराम में २७ गाथाओं में मनुष्य के दोषों का निरूपण करते हुए वृषल को व्याख्यायित किया है।^{५३} इस शृंखला में दो गाथाएँ उद्धृत हैं-

यो चत्तानं समुक्कंसे, परे च मवजानाति।

निहीनो सेन मानेन, तं जज्जा वसलो इति।।

रोसको च कदरियो च, पापिच्छो मच्छरी सठो।

अहिरिको अनोत्तप्पी, तं जज्जा वसलो इति।।^{५४}

जो अपनी प्रशंसा चाहता है, दूसरों का अपमान करता है एवं स्वयं उस गुण से रहित है, उसे वृषल जानो। जो क्रोधी स्वभाव वाला है, कंजूस है, पाप की इच्छा रखता है, ईर्ष्यालु है, शठ है, निर्लज्ज है, आलसी है, उस व्यक्ति को वृषल समझो। ब्राह्मण के सम्बन्ध में धम्मपद कहता है- “जो ध्यानी है, निर्मल है, एकान्तसेवी है, कृतकृत्य है, अनास्रव है, उत्तम अर्थ को प्राप्त है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।^{५५} आगे कहा- जो पापों को बहा देता है वह ब्राह्मण है- ‘वाहितपापोति ब्राह्मणो।’^{५६} जो शरीर, वाणी एवं मन से दुष्कृत नहीं करता तथा इन तीनों स्थानों से संवरयुक्त है उसे ब्राह्मण कहा गया है।^{५७} जटाओं और मृगचर्म को धारण करने से भी कोई ब्राह्मण नहीं होता, जो अपरिग्रही एवं त्यागी है वह ब्राह्मण होता है।^{५८} इस प्रकार पण्डित, श्रमण, मुनि आदि शब्द भी आध्यात्मिक अर्थों से समन्वित होकर आध्यात्मिक उन्नति की प्रेरणा करते हैं।

चित्त-विशुद्धि

बौद्ध धर्म में समस्त साधना चित्तविशुद्धि एवं निर्वाण की साधना का अंग है। लोभ, द्वेष, मोह आदि से चित्त मलिन होता है तथा इनके त्याग से चित्त विशुद्ध होता है। धम्मपद में कहा गया है कि मलिन चित्त अथवा उन्मार्ग में लगा हुआ चित्त जितनी हानि करता है, उतनी हानि एक शत्रु दूसरे शत्रु की नहीं करता।^{५९} बौद्ध दर्शन अपने दोषों का कारण अन्य को नहीं अपने चित्त को मानता है। यह चित्त ही अपना भला एवं बुरा करता है। माता-पिता एवं ज्ञातिजन भी व्यक्ति की उतनी भलाई नहीं करते जितनी सन्मार्ग पर लगा हुआ चित्त स्वयं का श्रेय करता है।^{६०}

यदि किसी का अपने प्रति वैर है तो उसको वैर से शान्त नहीं किया जा सकता। वैर को अवैर से ही शान्त किया जा सकता है।^{६१} वैरी के प्रति द्वेष भाव न हो एवं अपने भीतर शत्रुता का भाव न हो तो वैर

को जीता जा सकता है। यह सनातन धर्म या नियम है। जो यह सोचता है कि 'मुझे उसने गाली दी', 'मुझे मारा', 'मुझे हराया', 'मुझे लूट लिया', उसका वैर कभी शान्त नहीं होता।^{६२} जो समता में रहता है तथा द्वेष नहीं करता है उसका चित्त शुद्ध होता है एवं वह वैर को समाप्त कर पाता है।

सुत्तनिपात में सूचिलोम यक्ष ने भगवान् बुद्ध से प्रश्न किया- राग एवं द्वेष का उद्गम क्या है? पापों में रति एवं पुण्यों में अरति तथा भय क्यों उत्पन्न होते हैं? ये मनोवितर्क कहाँ से उद्भूत होते हैं जो चित्त को उसी प्रकार व्यथित करते हैं जिस प्रकार बच्चे किसी कौए के पैरों में रस्सी बाँधकर उसे व्यथित किया करते हैं? भगवान् बुद्ध ने उत्तर दिया- राग एवं द्वेष स्वचित्त से उद्भूत होते हैं। रति, अरति एवं भय भी चित्त से उद्भूत होते हैं और ये मनोवितर्क भी चित्त से प्रकट होते हैं, जो चित्त को उसी प्रकार व्यथित करते हैं जैसे कौए को बालक व्यथित करते हैं।^{६३}

जो अपने चित्त को अनित्य, अनात्म एवं दुःख की भावनाओं से भावित नहीं करता उसके चित्त में राग का प्रवेश उसी प्रकार हो जाता है जिस प्रकार घर की छत यदि ठीक से सारित न हो तो उसमें वर्षा का जल प्रविष्ट हो जाता है। इसलिए चित्त को भावित रखना चाहिए।^{६४}

चित्त में उत्पन्न होने वाले विकारों को ध्यान या समाधि में देखा जा सकता है। विपश्यना साधना भी इन विकारों के चक्र को देखने एवं रोकने में सहायक है। एक ध्यान साधक घर बनाने वाले विकारों को देखकर कहता है-

गहकारक! दिट्ठोसि पुन गेहं न काहसि।
सब्बा ते फासुका भग्गा गहकूटं विसड्खितं।।
विसड्खारगतं चित्तं तण्हानं खयमज्झगा।।^{६५}

हे गृहकारक! तुम दिखाई दे गए हो। अब फिर घर नहीं बना सकोगे। तेरी सब स्पर्श की कड़ियाँ टूट गई हैं, तुम्हारे घर का शिखर बिखर गया है। चित्त संस्कार-रहित हो गया है तथा तृष्णाओं का अन्त हो गया है।

चित्त की पूर्ण विशुद्धि तभी होती है जब राग, द्वेष, मोह आदि चैतसिक विकार नष्ट हो जाते हैं।

श्रद्धादि पाँच बल

बौद्धधर्म के ३७ बोधिपक्षीय धर्मों में श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि एवं प्रज्ञा को पाँच इन्द्रियाँ कहा गया है। इनको पाँच बलों में भी स्थान दिया गया है। योगसूत्र में भी इनका उल्लेख हुआ है, यथा- 'श्रद्धावीर्यस्मृति-समाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्'।^{६६} चित्तवृत्ति निरोध में इनकी भूमिका स्वीकार की गई है। बौद्धधर्म में चित्त की प्रसादमयी अवस्था को श्रद्धा कहा गया है- 'सम्पसादनलक्खणा सद्धा'।^{६७} श्रद्धा

सम्पूर्ण चित्त को प्रीति एवं प्रामोद्य से भर देती है। उत्पन्न होते ही चित्त मलों को नष्ट करना प्रारम्भ कर देती है- 'सद्भा उप्पज्जमाना नीवरणे विक्खम्भेति।'^{६८} श्रद्धा से युक्त व्यक्ति वीर्यारम्भ करता है। वीर्यारम्भ करने वाले की स्मृति अर्थात् जागरूकता बढ़ती है। जिसमें जागरूकता होती है उसी का चित्त समाधिमग्न होता है और चित्त की समाधि से ही प्रज्ञा प्रकट होती है।

प्रज्ञा

प्रज्ञा का जागरण बौद्धदर्शन का प्रमुख प्रतिपाद्य है। सम्यक्दृष्टि एवं सम्यक् संकल्प को प्रज्ञा का आधार माना गया है। दृष्टि जब निर्मल होती है, यथाभूत को जानती है, राग-द्वेष की कालिमा से रहित होती है तो वह प्रज्ञा के जागरण में सहायक होती है। दृष्टि सम्यक् होती है तो संकल्प भी सम्यक् होता है जिससे हिंसा, क्रोध आदि के दोषों से रहित जीवन बनता है। विपश्यना साधना प्रज्ञा का अपर नाम है, जैसा कि बोधिचर्यावतार टीका में कहा है- 'विपश्यनां प्रज्ञापरनामधेयाम्।'^{६९} इसे अधिक स्पष्ट करते हुए प्रज्ञाकरमति लिखते हैं- 'प्रज्ञा यथावस्थितप्रतीत्यसमुत्पन्नवस्तुतत्त्वप्रविचयलक्षणा।'^{७०} अर्थात् प्रतीत्य समुत्पन्न से वस्तु जैसी है उसका यथाभूत रूप में खण्ड-खण्ड कर जानने वाली दृष्टि प्रज्ञा है। इसमें चित्त की एकाग्रता लक्षण स्वरूपा समाधि सहायक होती है, जिसे समथ कहा गया है। प्रज्ञा तभी प्रकट होती है जब चित्त शान्त एवं एकाग्र हो। जिसका चित्त समाहित है, उसी को यथाभूत परिज्ञान होता है।

महायान परम्परा में दान, शील, क्षान्ति, वीर्य एवं ध्यान पारमिता को प्रज्ञा पारमिता के प्रकटीकरण में उपाय प्रतिपादित किया गया है।^{७१} ये पारमिताएँ संसार सागर से पार करा कर निर्वाण प्राप्ति में सहायक हैं, इसलिए उन्हें पारमिताएँ कहा गया है। प्रज्ञा पारमिता के बिना शेष पाँच पारमिताएँ अन्धी हैं तथा पाँच पारमिताओं के बिना प्रज्ञा पारमिता पङ्गु है।^{७२} सब वस्तुओं का सब जीवों के लिए दान और दानफल का परित्याग दान पारमिता है। दान पारमिता का साधक चाहता है कि उसके द्वारा किसी प्राणी का अनर्थ सम्पादित न हो। वह यह भी चाहता है कि उस पर जो मिथ्या दोष आरोपित करते हैं, उसका अपकार करते हैं या उपहास करते हैं, वे भी बुद्धत्व लाभ करें। दान पारमिता में चित्त मात्सर्यमल से रहित होता है। प्राणातिपात, अदत्तादान आदि गर्हित कार्यों से चित्त की विरतिशील पारमिता है। दूसरों के द्वारा अपकार किए जाने पर भी चित्त की अकोपनता क्षान्ति पारमिता है। कुशल कर्मों में चित्त का उत्साह वीर्य पारमिता है तथा चित्त की एकाग्रता ध्यान पारमिता है। यह ही शमथ का स्वरूप भी है। ये सभी पारमिताएँ चित्त से भिन्न नहीं हैं तथा प्रज्ञा पारमिता के प्रकटीकरण में सहायक हैं।

प्रज्ञा के तीन प्रकार प्रसिद्ध हैं- १. श्रुतमयी प्रज्ञा, २. चिन्तनमयी प्रज्ञा एवं ३. भावनामयी प्रज्ञा। शास्त्र के पढ़ने से या गुरुमुख से सुनने पर जो प्रज्ञा प्रकट होती है वह श्रुतमयी प्रज्ञा है। सुने या पढ़े हुए का

चिन्तन-मनन करने पर जो प्रज्ञा प्रकट होती है वह चिन्तनमयी प्रज्ञा है तथा अपनी अनुभूतियों के आधार पर अथवा ध्यान-साधनापूर्वक जो प्रज्ञा अभिव्यक्त होती है वह भावनामयी प्रज्ञा है। यह प्रज्ञा कोई बुद्धि विलास या बौद्धिक ज्ञान नहीं है, अपितु भीतर से प्रकट होने वाला जो सत्य का ज्ञान है वही प्रज्ञा है। शील एवं समाधि इसके आधार बनते हैं। यह त्रिविध प्रज्ञा हेतुभूत प्रज्ञा है। फलभूत प्रज्ञा तो सर्वधर्मशून्यता के अधिगम स्वभाव वाली होती है। सभी प्रतीत्य समुत्पन्न पदार्थों की निःस्वभावता पारमार्थिक होती है। ब्रह्मा के द्वारा शरीर, ज्ञान, आत्मा एवं चित्त के अहंकार का निराकरण किया जाता है, जिसे पुद्गल नैरात्म्य कहा गया है। नागार्जुन ने प्रज्ञा के प्रकटीकरण हेतु दो सत्यों का प्रतिपादन किया है- संवृति सत्य एवं परमार्थ सत्य। वे कहते हैं-

द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना।
लोकसंवृतिसत्यं च, सत्यं च परमार्थतः॥^{७३}

अध्यात्म के मर्म को समझने हेतु परमार्थ सत्य को जानना आवश्यक है। बोधिचर्यावतार में शान्तिदेव ने भी इन दोनों सत्यों का विवेचन किया है। जिसके द्वारा यथाभूत ज्ञान आवरित कर दिया जाता है वह संवृति है। वह अविद्या, मोह अथवा विपर्यास भी कही गई है।^{७४} जो प्रतीत्यसमुत्पन्न वस्तु में एकरूपता दिखाई देती है वह लोक संवृति सत्य है। इस प्रकार संवृति दो प्रकार की होती है लोक से तथ्यसंवृति एवं मिथ्या संवृति। जो प्रतीत्य समुत्पन्न नील आदि वस्तुएँ हैं वे लोक से सत्य है।^{७५} किन्तु अविद्याओं को वस्तु का स्वभाव ज्ञात नहीं होता है। जो यथाभूत उत्तम अर्थ है वह परमार्थ है, इसके अधिगम से समस्त आवरक वासना की सन्धि रूप क्लेश का प्रहाण होता है। परमार्थ सत्य को निःस्वभावता, शून्यता, तथता, भूतकोटि, धर्मधातु आदि भी कहा जाता है।^{७६} समस्त प्रतीत्य समुत्पन्न पदार्थों की निःस्वभावता उसका पारमार्थिक रूप है। जब परमार्थ सत्य का ज्ञान होता है तो क्लेश के कारणों एवं क्लेशों का प्रहाण होना प्रारम्भ हो जाता है। परमार्थसत्य का ज्ञान प्रज्ञा से होता है।

क्षान्ति

बोधिचर्यावतार में शान्तिदेव कहते हैं कि द्वेष के समान कोई पाप नहीं है और क्षमा के सदृश कोई तप नहीं है इसलिए विविध प्रकार से प्रयत्नपूर्वक क्षान्ति की भावना करनी चाहिए।^{७७} चित्त की कर्कश अवस्था द्वेष है तथा उसकी उद्भूतवृत्ति क्रोध है।^{७८} क्षान्ति के द्वारा द्वेष एवं क्रोध का निवारण किया जाता है। क्षान्ति के तीन प्रकार हैं- १. दुःखाधिवासना क्षान्ति, २. परापकारमर्षण क्षान्ति एवं ३. धर्मनिध्यान क्षान्ति।

जिस प्रकार अग्निकण तृणराशि को दग्ध करता है, उसी प्रकार द्वेष सहस्रों कल्पों के उपार्जित शुभ कार्यों को नष्ट करता है। जिसके हृदय में द्वेषानल प्रज्वलित है, उसको शान्ति और सुख कहाँ? उसको न नींद आती है और न उसका चित्त सुखी होता है। जो क्रोध को जीत लेता है वह इस लोक एवं परलोक दोनों में सुखी रहता है।

दुःखाधिवासना क्षान्ति—जिसमें अत्यन्त अनिष्ट का आगम होने पर भी भय न हो, इष्ट का विघात होने पर भी दुःख न हो वह क्षमा धारण कर पाता है। क्षमाशील व्यक्ति मुदिता से युक्त होता है। दौर्मनस्य की प्रतिपक्ष मुदिता है। दौर्मनस्य से कोई लाभ नहीं है। वह केवल पुण्य का नाश करता है। दुःख आने पर उसे सहन करना चाहिए। क्षुधा, पिपासा आदि की वेदना को और मशक-दंश आदि से उत्पन्न व्यथा को सहने के अभ्यास से महती व्यथा को सहने का सामर्थ्य उत्पन्न होता है। इसलिए दुःख के काल में भी पण्डित पुरुष को चित्त क्षोभ नहीं करना चाहिए, क्योंकि उसने क्लेश-शत्रुओं से संग्राम छेड़ रखा है और संग्राम में व्यथा का होना अनिवार्य है।^{७९} दुःख का यह भी वैशिष्ट्य है कि उससे यौवन, धनादि विषयक मद का भङ्ग होता है और संसार के सत्त्वों के प्रति करुणा, पाप से भय तथा बुद्ध में श्रद्धा उत्पन्न होती है। महान् दुःखकर पित्त आदि के विषम होने पर मैं उन पर क्रोध नहीं करता हूँ तो जो सकारण कोपित हैं, उन पर मैं क्यों क्रोध करूँ?^{८०}

परापकारमर्षण क्षान्ति—दूसरा व्यक्ति यह अपकार भी करे तो उसके प्रति द्वेष एवं क्रोध न करके उसे क्षमा कर देना परापकारमर्षण क्षान्ति है। बोधिचर्यावतार में कहा है—

यदि स्वभावे बालानां परोपद्रवकारिता।

तेषु कोपो न युक्तो मे यथाग्नौ दहनात्मके॥^{८१}

यदि अज्ञानियों का स्वभाव दूसरों को उद्विग्न करने का है तो भी उन पर क्रोध करना उचित नहीं; क्योंकि दहन स्वभाव वाली अग्नि तो जलाएगी ही। मैंने भी पहले प्राणियों को इसी प्रकार व्यथित किया होगा, इसलिए वे मुझे व्यथित कर रहे हैं, अतः उनके प्रति द्वेष क्यों?^{८२} मैं इनका अपकारी हूँ, ये मेरे उपकारी हैं, इसलिए हे दुष्टचित्त तू इन पर कुपित क्यों हो रहा है।^{८३} इस प्रकार दूसरों के द्वारा बुरा किए जाने पर भी उन पर क्रोध न कर क्षमाभाव धारण करने से क्षान्ति पारमिता पुष्ट होती है।

धर्मनिध्यान क्षान्ति—मन के अमूर्त होने के कारण कोई मन को दण्ड आदि से चोट नहीं मार सकता, किन्तु काया पर आसक्ति के कारण काया पर लगी चोट से चित्त दुःखी होता है।^{८४}

जो मानसिक दुःख के कारण अपमान, परुषवाक्य, अपयश आदि हैं उनके होने पर भी उनसे अप्रभावित रहना चाहिए। दूसरों की अप्रसन्नता मुझे खा नहीं जाएगी।^{८५} इस संसार में बहुत से लाभ प्राप्त कर लेने एवं सुखों का भोग कर लेने पर भी व्यक्ति लुटे हुए व्यक्ति की भांति रिक्त हाथ एवं नग्न हो

जाएगा।^{६६} क्षमाशीलता के सम्बन्ध में प्रेरक कथन है- “जो दूसरों की निन्दा करता है, उसको तो तुम क्षमा कर देते हो, उसके प्रति क्रोध नहीं करते हो, तब अपनी निन्दा करने वालों को क्षमा क्यों नहीं करते।^{६७} साम्प्रदायिक द्वेष के भाव का विनाश करते हुए कहा है- “प्रतिमा, स्तूप और सद्धर्म नाशक या निन्दक के प्रति भी मेरा द्वेष होना उचित नहीं है, क्योंकि इससे बुद्ध आदि को कोई व्यथा नहीं होती है।^{६८} क्षमाशीलता एवं साम्प्रदायिक अद्वेष की यह पराकाष्ठा का उदाहरण है जो आध्यात्मिक उन्नति का भी सूचक है।

निर्वाण

अविद्या, संस्कार आदि द्वादश निदान का नाश होने पर निर्वाण की प्राप्ति होती है। जब व्यक्ति आस्रव रहित हो जाता है एवं तृष्णा का प्रहाण कर देता है तो वह निर्वाण को प्राप्त कर लेता है।^{६९} बुद्ध चरित में कहा है कि दोषों का क्षय होने पर भवचक्र रुक जाता है तथा कर्मों का क्षय होने पर दुःख का नाश हो जाता है।^{७०} निर्वाण परम सुख की अवस्था है।^{७१} निर्वाण नित्य है, वह एक बार होने पर नष्ट नहीं होता। जिस प्रकार तेल और बत्ती के रहने से दीपक जलता है और उस तेल एवं बत्ती के समाप्त हो जाने पर दीपक बुझ जाता है, निर्वाण को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार निर्वाण के समय व्यक्ति न तो नीचे जाता है, न ही अन्तरिक्ष में जाता है, वह किसी दिशा या विदिशा में भी नहीं जाता है। वह तो क्लेश का क्षय होने से मात्र शान्ति को प्राप्त करता है।^{७२} निर्वाण अच्युत पद है, अमृत पद है। जन्म-जरा-मरण से विमुक्त अवस्था है। बुद्धघोष के अनुसार सभी मलों से रहित अत्यन्त परिशुद्ध अवस्था निर्वाण है।^{७३} जिसमें ध्यान एवं प्रज्ञा है वह निर्वाण के निकट है, अर्थात् वही निर्वाण को प्राप्त करता है।^{७४} थेरवाद में समस्त क्लेशावरणों का प्रहाण होने पर निर्वाण या मोक्ष की प्राप्ति होती है। सोपधिशेष निर्वाण के पश्चात् साधक के चित्त में पुनः क्लेश उत्पन्न नहीं होता है। जब वह ज्ञेयावरण का भी प्रहाण कर देता है तो उसे बुद्धत्व की प्राप्ति हो जाती है। शरीर छूटने के साथ ही यह निरुपधिशेष निर्वाण कहा जाता है। दुःख निरोध स्वरूप निर्वाण ही बौद्धदर्शन का परम लक्ष्य एवं सर्वोत्तम मंगल है। महायान परम्परा में अप्रतिष्ठित निर्वाण का भी उल्लेख प्राप्त होता है, जिसके अनुसार निर्वाण प्राप्त साधक न तो लोक के दोषों से दूषित होता है और न संसार छोड़कर पूर्ण निर्वाण में प्रविष्ट होता है। भव एवं शम इन दोनों अन्तों का परिवर्जन कर मध्य में रहने से वह अप्रतिष्ठित निर्वाण में स्थित कहा जाता है।

सन्दर्भः-

१. रूपं भिक्खवे अनत्ता। रूपं च हिदं भिक्खवे अत्ता अभविस्सा, न यिदं रूपं आबाधाय सम्वत्तेय्य, लभेय च रूपे एवं मे रूपं होतु एवं मे रूपं मा अहोसीति। यस्मा च खो भिक्खवे रूपं अनत्ता, तस्मा रूपं आबाधाय संवत्तति, न च लब्भति रूपे एवं मे रूपं होतु एवं मे रूपं या अहोसीति।-अनत्तलक्खणसुत्त, महावग्ग, बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, भरतसिंह उपाध्याय, बंगाल हिन्दी मण्डल, कलकत्ता, सं. २०११, पृ. ४१३
२. दीघनिकाय, महानिदान सुत्त
३. मज्झिमनिकाय, ३.५.५ एवं ३.५.३
४. संयुत्त-निकाय, २१.८.६
५. मज्झिमनिकाय, १.३.२
६. धम्मपद, भिक्खुवग्गो, २१
७. धम्मपद अत्तवग्गो, ४
८. महासतिपट्ठानसुत्त, दुक्खसच्चनिद्देशो, पृ. ३२
९. अविज्जापच्चया सङ्खारा, सङ्खारपच्चया विज्जाणं, विज्जाणपच्चया नामरूपं, नामरूपपच्चया सळायतनं, सळायतनपच्चया फस्सो, फस्सपच्चया वेदना, वेदनापच्चया तण्हा, तण्हापच्चया उपादानं, उपादानपच्चया भवो, भवपच्चया जाति, जातिपच्चया जरामरणं सोकपरिदेवदुक्खदोमनस्सुपायासा सम्भवन्ति।-खुद्दकनिकाय, उदानपालि-१
१०. धम्मपद, मलवग्गो, ६
११. धम्मपद, मलवग्गो, ११
१२. इध सोचति पेच्च सोचति पापकारी उभयत्थ सोचति।
सो सोचति सो विहज्जति दिस्वा कम्मकिलिट्ठमत्तनो।।-धम्मपद, १.१५
१३. धम्मपद, तण्हावग्गो, ३
१४. धम्मपद, निरयवग्गो, १२-१३
१५. नेक्खम्मसंकप्पो, अव्यापादसंकप्पो, अविहिंसासंकप्पो- महासतिपट्ठान, मग्गसच्चनिद्देशो
१६. धम्मपद कोधवग्गो, ५
१७. धम्मपद कोधवग्गो, ३
१८. धम्मपद, दण्डवग्गो, ५
१९. बौद्ध दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त, बौद्ध अध्ययन केन्द्र, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर, २००६, पृ. २२

-
२०. द्रष्टव्य, महासतिपट्टानसुत्त, विपश्यना विशोधन विन्यास, इगतपुरी, १९९६
२१. एकायनो अयं भिक्खवे, मग्गो सत्तानं विसुद्धिया, सोकपरिदेवानं समतिक्कमाय, दुक्खदोमनस्सानं अत्थङ्गमाय, भावस्स अधिगमाय, निब्बानस्स सच्छिकिरियाय, यदिदं चत्तारो सति पट्टाना।-महासतिपट्टानसुत्त, उद्देशक, पृ. २
२२. बोधिपक्षीय धर्म हैं- चार स्मृति प्रस्थान, चार सम्यक् प्रधान, चार ऋद्धिपाद, पाँच इन्द्रियाँ, पाँच बल, सात बोध्यंग एवं आर्य अष्टांगिक मार्ग।
२३. अंगुत्तरनिकाय पालि, एकक निपात, संपा- स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, बौद्ध भारती, वाराणसी, पृ. १६-१७
२४. वही, पृष्ठ, १५-१६
२५. वही, पृष्ठ १६-१९
२६. धम्मपद, बुद्धवग्गो, ५
२७. धम्मपद, पापवग्गो, १
२८. पापञ्चे पुरिसो कयिरा न तं कयिरा पुनप्पुनं।
न तम्हि छन्दं कयिराथ, दुक्खो पापस्स उच्चयो।।
पुञ्जं चे पुरिसो कयिरा, कयिराथेनं पुनप्पुनं।
तम्हि छन्दं कयिराथ, सुखो पुञ्जस्स उच्चयो।।-धम्मपद, पापवग्गो, २-३
२९. धम्मपद, पापवग्गो, ९
३०. धम्मपद, पापवग्गो, १०
३१. धम्मपद, पापवग्गो, १२-१३
३२. गब्भमेके उप्पज्जन्ति निरयं पापकम्मिनो।
सगं सुगतिनो यन्ति परिनिब्बन्ति अनासवा।।-धम्मपद, पापवग्गो, ११
३३. धम्मपद, पापवग्गो, ४
३४. धम्मपद, दण्डवग्गो, ८
३५. उत्तिट्ठे नप्पमज्जेय्य धम्मं सुचरितं चरे।
धम्मचारी सुखं सेति अस्मिं लोए परम्हि य।।-धम्मपद लोकवग्गो, २
३६. यो पाणमतिपातेति मुसावादञ्च भासति।
लोके अदिन्नं आदियति परदारञ्च गच्छति।
सुरामेय पानञ्च यो नरो अनुयुञ्जति।
इधेवमेसो लोकस्मिं मूलं खनति अत्तनो।।-धम्मपद, मलवग्गो, १२-१३
-

-
३७. दशवैकालिकसूत्र, चतुर्थ अध्याय
३८. (i) हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्। देशसर्वतोऽणुमहती। -तत्त्वार्थसूत्र, ७.१-२
(ii) अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः। -पातञ्जलयोगसूत्र, २.३०
३९. न तेन अरियो होति येन पाणानि हिंसति।
अहिंसा सव्वपाणानं अरियो ति पवुच्चति।।-धम्मपद, धम्मट्ठवग्गो, १५
४०. धम्मपद, दण्डवग्गो, १
४१. धम्मपद, दण्डवग्गो, १०-१२
४२. माता यथा नियं पुत्तं, आयुसा एकपुत्तमनुरक्खे।
एवं पि सब्बभूतेसु, मानसं भावये अपरिमाणं।।-सुत्तनिपात, उरगवग्गो, मेत्तसुत्त, १४९
४३. सुत्तनिपात, उरगवग्गो, मेत्तसुत्त, १५०
४४. धम्मपद, कोधवग्गो, १४
४५. अंगुत्तरनिकाय, भाग ४, दसकनिपात, पृ. ४११-४१५
४६. न तेन पण्डितो होति यावता बहु भासति।
खेमी अवेरी अभयो पण्डितो ति पवुच्चति।।-धम्मपद, धम्मट्ठवग्गो, ३
४७. धम्मपद, पण्डित वग्गो, ६
४८. धम्मपद, धम्मट्ठवग्गो, १०
४९. धम्मपद, धम्मट्ठवग्गो, १२
५०. धम्मपद, धम्मट्ठवग्गो, १४
५१. धम्मपद, यमकवग्गो, ९
५२. कोधनो उपनाही च, पापमक्खी च यो नरो।
विपन्नदिट्ठि मायावी, तं जज्जा वसलो इति।।-सुत्तनिपात, उरगवग्गो, ११६
५३. द्रष्टव्य, सुत्तनिपात उरगवग्गो, वसलसुत्त
५४. सुत्तनिपात, उरगवग्गो, १३२-१३३
५५. झारियं विरजमासीनं कतकिञ्चं अनासवं।
उत्तमत्थं अनुप्पत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं।।-धम्मपद, ब्राह्मणवग्गो, ४
५६. धम्मपद, ब्राह्मणवग्गो, ६
५७. धम्मपद, ब्राह्मणवग्गो, ९
५८. न जहाहि न गोत्तेहि न जच्चा होति ब्राह्मणो।
यम्हि सच्चञ्च धम्मो च सो सुची सो च ब्राह्मणो।।-धम्मपद, ब्राह्मणवग्गो, ११

-
५९. धम्मपद, चित्तवग्गो, १०
६०. धम्मपद, चित्तवग्गो, ११
६१. न हि वेरेन वेरानि सम्मन्ति' ध कुदाचनं।
अवेरेन च सम्मन्ति, एस धम्मो सनन्तनो।।-धम्मपद, यमकवग्गो, ५
६२. धम्मपद, यमकवग्गो, ३
६३. सुत्तनिपात, चूलवग्गो, सूचिलोमसुत्त, ५०-५१, पृ. ५२
६४. यथागारं दुच्छन्नं वुट्ठि समतिविज्झति।
एवं अभावितं चित्तं रागो समतिविज्झति।।-धम्मपद, यमकवग्गो, १३
६५. धम्मपद, जरावग्गो, ६
६६. योगसूत्र, १.२०
६७. मिलिन्दपञ्चपालि, लक्खणपञ्चो, महावग्गो, पृ. २६
६८. मिलिन्दपञ्चपालि, लक्खणपञ्चो, महावग्गो, पृ. २६
६९. बोधिचर्यावतार, प्रज्ञाकरमति विरचित पंजिका, प्रज्ञापारमिता, पृ. २०३
७०. बोधिचर्यावतार, प्रज्ञाकरमति विरचित पंजिका, प्रज्ञापारमिता, पृ. २०३
७१. द्रष्टव्य, बोधिचर्यावतार, प्रज्ञापारमिता पंजिका, पृ. २०४
७२. केवलं नेत्रविकला इव दानादयः प्रज्ञानेतृका एवं यथाभिमतां।
सौगतीं भूमिमभिसरन्तीति प्रज्ञोपनायका उच्यन्ते।।-बोधिचर्यावतार, प्रज्ञापारमिता, पंजिका,
पृ. २०४
७३. माध्यमिककारिका, प्रसिद्ध श्लोक
७४. संव्रियते आव्रियते यथाभूतपरिज्ञानं स्वभावावरणादावृतप्रकाशनाच्च अनयेति संवृतिः। अविद्या,
मोहः, विपर्यास इति पर्यायाः।-बोधिचर्यावतार, प्रज्ञापारमिता, पंजिका, पृ. २०६
७५. सा च संवृतिर्द्विविधा-लोकत एव तथ्यसंवृतिर्मिथ्यासंवृतिश्चेति। तथाहि किञ्चित् प्रतीत्याजातं
नीलादिकं वस्तुरूपमदोषवदिन्द्रियैरुपलब्धं लोकत एव सत्यम्।-बोधिचर्यावतार,
प्रज्ञापारमिता, पंजिका, पृ. २०७
७६. परमः उत्तमः अर्थः परमार्थः अकृत्रिमं वस्तुरूपम्, यदधिगमात्
सर्वावृतिवासनानुसन्धिक्लेशप्रहाणं भवति। सर्वधर्माणां निःस्वभावता, शून्यता, तथता,
भूतकोटिः, धर्मधातुरित्यादिपर्यायाः।-बोधिचर्यावतार, प्रज्ञापारमिता, पंजिका, पृ. २०७
७७. न च द्वेषसमं पापं, न च क्षान्तिसमं तपः।
तस्मात् क्षान्तिं प्रयत्नेन, भावयेद्विधैर्नयैः।।-बोधिचर्यावतार, क्षान्तिपारमिता, २

७८. चित्तस्य कर्कशावस्था द्वेषः, तस्योद्भूतवृत्तिस्तु क्रोधः॥-बोधिचर्यावतार, पंजिका, पृ. ६८
७९. दुःखेऽपि नैव चित्तस्य प्रसादं क्षोभयेद् बुधः।
संग्रामो हि सह क्लेशैर्युद्धे च सुलभा व्यथा॥-बोधिचर्यावतार, क्षान्तिपारमिता, १६, पृ. १०२
८०. पित्तादिषु न मे कोपो, महादुःखकरेष्वपि।
सचेतनेषु किं कोपः, तेऽपि प्रत्ययकोपिताः॥-बोधिचर्यावतार, क्षान्तिपारमिता, २२, पृ. १०३
८१. बोधिचर्यावतार, क्षान्तिपारमिता, श्लोक ३६
८२. मयाऽपि पूर्वं सत्त्वानामीदृश्येव व्यथा कृता।
तस्मान्मे युक्तमेवैतत् सत्त्वोपद्रवकारिणः॥-बोधिचर्यावतार, क्षान्तिपारमिता, ४२, पृ. ११०
८३. अहमेवापकार्येषां ममैते चोपकारिणः।
कस्माद् विपर्ययं कृत्वा खल चेव प्रकुप्यसि॥-बोधिचर्यावतार, क्षान्तिपारमिता, ४६, पृ. १११
८४. मनो हन्तुमर्मूतत्वान्न शक्यं केनचित् क्वचित्।
शरीराभिनिवेशात्तु चित्तं दुःखेन बाध्यते॥-बोधिचर्यावतार, क्षान्तिपारमिता, ५२, पृ. ११२
८५. बोधिचर्यावतार, क्षान्ति पारमिता, ५३ एवं ५४, पृ. ११३
८६. लब्ध्वापि बहूलाभान्, चिरं भक्त्वा सुखान्यपि।
रिक्तहस्तश्च नग्नश्च, यास्यामि मुषितो यथा॥-बोधिचर्यावतार, क्षान्ति पारमिता, ५६
८७. बोधिचर्यावतार, क्षान्तिपारमिता, श्लोक ६२, पृ. ११५
८८. बोधिचर्यावतार, क्षान्तिपारमिता, श्लोक ६४, पृ. ११६
८९. तण्हाय विप्पहानेन निब्बणं इति वुच्चति। -सुत्तनिपात ५.१४.५
९०. दोषक्षये ध्रुवं त्वेतद् भवचक्रं विरम्यते।
कर्मक्षये दुःखनाशो बीजाऽभावेऽङ्कुरः कुतः॥-बुद्धचरित, १५.५१
९१. निब्बानं परमं सुखं। -धम्मपद, सुखवग्गो, ७
९२. दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न कांचिद् विदिशं न कांचित् स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥
एवं कृती निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न कांचिद् विदिशं न कांचिद् क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥-सौन्दरनन्द, सर्ग १६,
श्लोक २८-२९
९३. विसुद्धीति सल्लमलविरहितं अच्चन्तपरिसुद्धं निब्बानं वेदितव्वं।-विसुद्धिमग्ग, सीलनिद्देशो,
निदानादिकथा, ५
९४. यमिह ज्ञानञ्च पञ्जा च स वे निब्बानसन्तिके।-धम्मपद, भिक्खुवग्गो, १३

प्रयुक्त ग्रन्थसूची-

१. अङ्गुत्तरनिकाय पालि, भाग १-४, बौद्ध भारती, वाराणसी, २००२
२. खुद्दकपाठ - धम्मपद -उदानपालि, विपश्यना विशोधन विन्यास, इगतपुरी, १९९८
३. तत्त्वार्थसूत्र, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, १९८५
४. दशवैकालिक सूत्र, सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर, १९८३
५. धम्मपद, अनु.-डॉ. भदन्त आनन्द कौसल्यायन, बुद्ध भूमि प्रकाशन, नागपुर, १९९३
६. पातञ्जलयोगसूत्र, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, १९६९
७. बुद्धचरित, अश्वघोष, चौखम्भा, वाराणसी
८. बोधिचर्यावतार, प्रज्ञाकरमतिकृत पञ्जिका सहित, बौद्ध भारती, वाराणसी, २००१
९. बौद्धदर्शन के प्रमुख सिद्धान्त, सम्पादक- प्रो. धर्मचन्द्र जैन, डॉ. श्वेता जैन, बौद्ध अध्ययन केन्द्र, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर, २००९
१०. बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन (प्रथम भाग), भरतसिंह उपाध्याय, बंगाल हिन्दी मण्डल, कलकत्ता, १९५४
११. महासतिपट्टानसुत्त, विपश्यना विशोधन विन्यास, इगतपुरी, २००८
१२. मिलिन्दपञ्चपालि, बौद्ध भारती, वाराणसी, १९७९
१३. सुत्तनिपात पालि, बौद्ध भारती, वाराणसी, २००५
१४. सौन्दरनन्द, अश्वघोष, चौखम्भा, वाराणसी